4 ग्रामीण समाज में विकास एवं परिवर्तन

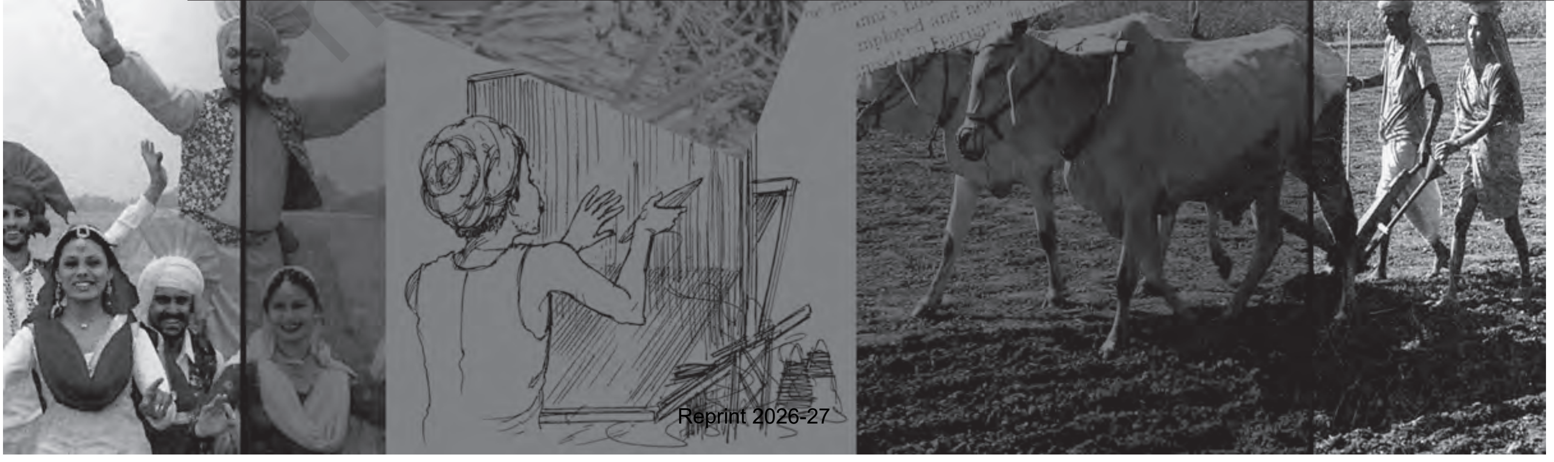

भारतीय समाज प्राथमिक रूप से ग्रामीण समाज ही है, हालाँकि यहाँ नगरीकरण बढ़ रहा है। भारत के बहुसंख्यक लोग गाँव में ही रहते हैं (69 प्रतिशत, 2011 की जनगणना के अनुसार) उनका जीवन कृषि अथवा उससे संबंधित व्यवसायों से चलता है। इसका अर्थ यह हुआ कि बहुत से भारतीयों के लिए भूमि उत्पादन का एक महत्वपूर्ण साधन है। भूमि संपति का एक महत्वपूर्ण प्रकार भी है। लेकिन भूमि न तो केवल उत्पादन का साधन है और न ही केवल संपत्ति का एक प्रकार। न ही केवल कृषि है जो कि उनके जीविका का एक प्रकार है। यह जीने का एक तरीका भी है। हमारी बहुत सी सांस्कृतिक रस्मों और उनके प्रकार में कृषि की पृष्ठभूमि होती है। आप पिछले पाठों को याद कीजिए कि कैसे संरचनात्मक और सांस्कृतिक परिवर्तन घनिष्ठ रूप में एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। उदाहरण के लिए भारत के विभिन्न क्षेत्रों में नव वर्ष के त्योहार जैसे तमिलनाडु में पोंगल, आसाम में बीहू, पंजाब में बैसाखी, कर्नाटक में उगाड़ी ये सब मुख्य रूप से फसल काटने के समय मनाए जाते हैं, और नए कृषि मौसम के आने की घोषणा करते हैं। कुछ अन्य कृषि संबंधी त्यौहारों के बारे में जानकारी प्राप्त कीजिए।

कृषि एवं संस्कृति के बीच एक घनिष्ठ संबंध है। हमारे देश में कृषि की प्रकृति और अभ्यास प्रत्येक क्षेत्र में भिन्न-भिन्न तरह का मिलेगा। ये भिन्नताएँ विभिन्न क्षेत्रीय संस्कृतियों में बिंबित होती हैं। आप कह सकते हैं कि ग्रामीण भारत की सांस्कृतिक और सामाजिक संरचना दोनों कृषि और कृषिक (एगरेरियन) जीवन पद्धति से बहुत निकटता से जुड़ी हुई है।

अधिकतम ग्रामीण जनसंख्या के लिए कृषि जीविका का एकमात्र महत्वपूर्ण स्रोत या साधन है। लेकिन ग्रामीण सिर्फ कृषि ही नहीं है। बहुत से ऐसे क्रियाकलाप हैं जो कृषि और ग्राम्य जीवन की मदद के लिए हैं और वे ग्रामीण भारत में लोगों के जीविका के स्रोत हैं! उदाहरण के लिए बहुत से ऐसे कारीगर या दस्तकार जैसे कुम्हार, खाती, जुलाहे, लुहार एवं सुनार भी ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं। वे ग्रामीण अर्थव्यवस्था का एक हिस्सा और खंड हैं। औपनिवेशिक काल से ही वे संख्या में धीरे-धीरे कम होते जा रहे हैं। आपने पहले अध्याय में पढ़ ही लिया है कि कैसे मशीन से बने सामानों के आगमन ने उनकी हाथ से बनी हुई वस्तुओं का स्थान ले लिया है।

बहुत से अन्य विशेषज्ञ एवं दस्तकार जैसे कहानी सुनाने वाले, ज्योतिषी, पुजारी, भिश्ती एवं तेली इत्यादि भी ग्रामीण जीवन में लोगों को सहारा देते हैं। ग्रामीण भारत में व्यवसायों की भिन्नता यहाँ की जाति

व्यवस्था में प्रतिबिंबित होती है, जहाँ कि कुछ क्षेत्रों में विशेषज्ञ और अपनी सेवाएँ देने वाले धोबी, कुम्हार एवं सुनार इत्यादि सम्मिलित होते हैं। इनमें से कुछ परंपरागत व्यवसाय आज टूट रहे हैं। लेकिन ग्रामीण नगरीय आर्थिकी के परस्पर अंतःसंबंध से कई व्यवसाय गाँवों में आ रहे हैं। बहुत से लोग गाँवों में रहते हैं, नौकरी करते हैं या उनकी जीविका ग्रामीण अकृषि क्रियाकलापों पर आधारित है। उदाहरण के लिए बहुत से गाँव में रहने वाले लोग सरकारी नौकरी जैसे डाकखाने में, शिक्षा विभाग में, कारखाने में कामगार या सेना की नौकरी करते हैं, उनकी जीविका अकृषि क्रियाकलापों से चलती है।

क्रियाकलाप 4.1

- *आपके क्षेत्र में मनाए जाने वाले किसी ऐसे महत्वपूर्ण त्योहार के बारे में सोचिए जिसका संबंध फसलों या कृषि जीवन से है। इस त्योहार में शामिल विभिन्न रीति रिवाजों का क्या अभिप्राय है, और वे कृषि के साथ कैसे जुड़े हैं?*
- *भारत मे बहुत से ऐसे कस्बे और शहर बढ़ रहे हैं जिनके चारों ओर गाँव है। क्या आप किसी ऐसे शहर या कस्बे के बारे में बता सकते हैं जो पहले गाँव था या ऐसा क्षेत्र जो पहले कृषि भूमि था? इस स्थान के विकसित होने के बारे में आप क्या सोचते हैं। और उन लोगों का क्या हुआ जिनकी जीविका इस भूमि से चलती थी।*

The Diversity of Occupations

Reprint 2026-27

4.1 कृषिक संरचना: ग्रामीण भारत में जाति एवं वर्ग

ग्रामीण समाज में कृषियोग्य भूमि ही जीविका का एकमात्र महत्वपूर्ण साधन और संपत्ति का एक प्रकार है। लेकिन किसी विशिष्ट गाँव या किसी क्षेत्र में रहने वालों के बीच इसका उचित विभाजन नहीं है। न ही सभी के पास भूमि होती है। वास्तव में भूमि का विभाजन घरों के बीच बहुत असमान रूप से होता है। भारत के कुछ भागों में अधिकांश लोगों के पास कुछ न कुछ भूमि होती है – अक्सर जमीन का बहुत छोटा टुकड़ा होता है। कुछ दूसरे भागों में 40 से 50 प्रतिशत परिवारों के पास कोई भूमि नहीं होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि उनकी जीविका या तो कृषि मज़दूरी से या अन्य प्रकार के कार्यों से चलती है। इसका सहज अर्थ यह हुआ कि कुछ थोड़े परिवार बहुत अच्छी अवस्था में है। बड़ी संख्या में लोग गरीबी की रेखा के ऊपर या नीचे होते हैं।

उत्तराधिकार के नियमों और पितृवंशीय नातेदारी व्यवस्था के कारण, भारत के अधिकांश भागों में महिलाएँ ज़मीन की मालिक नहीं होती हैं। कानून महिलाओं को पारिवारिक संपत्ति में बराबर की हिस्सेदारी दिलाने में सहायक होता है। वास्तव में उनके पास बहुत सीमित अधिकार होते हैं, और परिवार का हिस्सा होने के नाते भूमि पर अधिकार होता है जिसका कि मुखिया एक पुरुष होता है।

भूमि स्वामित्व के विभाजन अथवा संरचना संबंध के लिए अक्सर कृषिक संरचना शब्द का इस्तेमाल किया जाता है। क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों में कृषियोग्य भूमि ही उत्पादन का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत है, भूमि रखना ही ग्रामीण वर्ग संरचना को आकार देता है। कृषि उत्पादन की प्रक्रिया में आपकी भूमिका का निर्धारण मुख्य रूप से भूमि पर आपके अभिगमन से होता है। मध्यम और बड़ी ज़मीनों के मालिक साधारणतः कृषि से पर्याप्त अर्जन ही नहीं बल्कि अच्छी आमदनी भी कर लेते हैं (हालाँकि यह फसलों के मूल्य पर निर्भर करता है जो कि बहुत अधिक घटता-बढ़ता रहता है, साथ ही अन्य कारणों जैसे मानसून पर भी निर्भर करता है) लेकिन *कृषि मज़दूरों* को अक्सर निम्नतम निर्धारित मूल्य से कम दिया जाता है और वे बहुत कम कमाते हैं। उनकी आमदनी निम्नतम होती है। उनका रोज़गार असुरक्षित होता है। अधिकांश कृषि-मज़दूर रोज़ाना दिहाड़ी कमाने वाले होते हैं और वर्ष में बहुत से दिन उनके पास कोई काम नहीं होता है। इसे बेरोज़गारी कहते हैं। समान रूप से काश्तकार या पट्टेधारी (कृषक जो भूस्वामी से जमीन पट्टे पर लेता है) की आमदनी मालिक-कृषकों से कम होती है, क्योंकि वह ज़मीन के मालिक को यथेष्ट किराया चुकाता है – साधारणतः फसल से होने वाली आमदनी का 50 से 75 प्रतिशत।

अतः कृषक समाज को उसकी वर्ग संरचना से ही पहचाना जाता है। परंतु हमें यह भी अवश्य याद रखना चाहिए कि यह जाति व्यवस्था के द्वारा संरचित होता है। ग्रामीण क्षेत्रों में, जाति और वर्ग के संबंध बड़े जटिल होते हैं। ये संबंध हमेशा स्पष्टवादी नहीं होते। हम प्रायः यह सोचते है कि ऊँची जातिवालों के पास अधिक भूमि और आमदनी होती है और यह कि जाति और वर्ग में पारस्परिकता है, उनका संस्तरण नीचे की ओर होता है। कुछ क्षेत्रों में यह मोटे तौर पर सही है लेकिन पूर्ण सत्य नहीं है। उदाहरण के लिए कई जगहों पर सबसे ऊँची जाति ब्राह्मण बड़े भूस्वामी नहीं हैं, अतः वे कृषिक संरचना से भी बाहर हो गए हालाँकि वे ग्रामीण समाज के अंग हैं। भारत के अधिकांश क्षेत्रों में भूस्वामित्व वाले समूह के लोग 'शूद्र' या 'क्षत्रिय' वर्ण के हैं। प्रत्येक क्षेत्र में, सामान्यतः एक या दो जातियों के लोग ही भूस्वामी होते हैं, वे संख्या के आधार पर भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। समाजशास्त्री एम. एन. श्रीनिवास ने ऐसे लोगों को प्रबल जाति का नाम दिया। प्रत्येक क्षेत्र में, प्रबल जाति समूह काफी शक्तिशाली होता है। आर्थिक और राजनीतिक रूप से वह स्थानीय लोगों पर प्रभुत्व

Reprint 2026-27

बनाए रखता है। उत्तर प्रदेश के जाट और राजपूत कर्नाटक के वोक्कालिगास और लिंगायत, आंध्र प्रदेश के कम्मास और रेड्डी और पंजाब के जाट सिख प्रबल भूस्वामी समूहों के उदाहरण हैं।

सामान्यतः प्रबल भूस्वामियों के समूहों में मध्य और ऊँची जातीय समूहों के लोग आते हैं, अधिकांश सीमांत किसान और भूमिहीन लोग निम्न जातीय समूहों के होते हैं। दफ्तरी वर्गीकरण के अनुसार ये लोग अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों अथवा अन्य पिछड़े वर्गों के होते हैं। भारत के कई भागों में, पहले 'अछूत' अथवा दलित जाति के लोगों को भूमि रखने का अधिकार नहीं था, वे अधिकांशतः प्रबल जाति के भूस्वामी समूहों के लोगों के यहाँ कृषि मज़दूर रहते थे। इसमें एक मज़दूर सेना बनी जिससे भूस्वामियों ने खेत जुतवाकर कृषि करवाई और ज़्यादा लाभ कमाया।

बॉक्स 4.1

कृषि उत्पादन और कृषिक संरचना के बीच एक सीधा संबंध होता है। ऐसे क्षेत्र जहाँ सिंचाई की पर्याप्त व्यवस्था होती है, जहाँ काफी वर्षा होती है, जहाँ सिंचाई के कृत्रिम साधन हों (जैसे चावल उत्पादन करने वाले क्षेत्र जो नदी के मुहाने (डेल्टा) पर होते हैं, उदाहरण के लिए तमिलनाडु में कावेरी वेसिन वहाँ गहन कृषि के लिए अधिक श्रमिकों की आवश्यकता होती है। यहाँ बहुत असमान कृषिक संरचना विकसित हुई। बड़ी संख्या में भूमिहीन मज़दूर, जो कि अधिकांशतः बंधुआ और निम्न जाति के होते हैं इस क्षेत्र की कृषीय संरचना के लक्षण थे। (कुमार 1998)

जाति और वर्ग का अनुपात अच्छा नहीं था अर्थात् विशिष्ट अर्थ में सबसे अच्छी ज़मीन और साधन उच्च एवं मध्य जातियों के पास थे, अतः शक्ति एवं विशेषाधिकार भी। इसका महत्वपूर्ण निहितार्थ ग्रामीण समाज पर होता है। देश के अधिकतर क्षेत्रों में अर्थव्यवस्था मालिकाना जाति के पास सभी महत्वपूर्ण साधन हैं और सभी मज़दूरों पर उनका नियंत्रण है ताकि वे उनके लिए काम करें। उत्तरी भारत के कई भागों में अभी भी 'बेगार' और मुफ़्त मज़दूरी जैसी पद्धति प्रचलन में है। गाँव के ज़मींदार या भूस्वामी के यहाँ निम्न जाति समूह के सदस्य वर्ष में कुछ निश्चित दिनों तक मज़दूरी करते हैं। बहुत से गरीब कामगार पीढ़ियों से उनके यहाँ बँधुआ मज़दूर की तरह काम कर रहे हैं, हालाँकि कानूनन इस तरह की व्यवस्थाएँ समाप्त हो गई हैं, लेकिन वे कई क्षेत्रों में अभी भी चल रही हैं।

क्रियाकलाप 4.2

- *सोचिए कि आपने जाति व्यवस्था के बारे में क्या सीखा। कृषिक या ग्रामीण वर्ग संरचना और जाति के मध्य पाए जाने वाले विभिन्न संबंधों को वर्गीकृत कीजिए! इसकी संसाधनों, मज़दूर एवं व्यवसाय की विभिन्नता के साथ विवेचना कीजिए।*

4.2 भूमि सुधार के परिणाम

औपनिवेशिक काल

भारत में ऐतिहासिक कारणों से कुछ क्षेत्र मात्र एक या दो मुख्य समूहों के प्रभुत्व में रहे। लेकिन यह जानना महत्वपूर्ण है कि कृषिक संरचना पूर्व-औपनिवेशिक से औपनिवेशिक और स्वतंत्रता के पश्चात बृहद रूप में परिवर्तित होती रही। जबकि वही प्रबल जाति पूर्व-औपनिवेशिक काल में भी कृषिक जाति थी, वे प्रत्यक्ष रूप में ज़मीन के मालिक नहीं थे। इनके स्थान पर, शासन करने वाले समूह जैसे कि स्थानीय राजा या ज़मींदार (भूस्वामी जो अपने क्षेत्र में राजनीतिक रूप से भी शक्तिशाली थे, सामान्यतः क्षत्रिय या अन्य ऊँची जाति के

© NCERT not to be republished

होते थे) भूमि पर नियंत्रण रखते थे। किसान अथवा कृषक जो कि उस भूमि पर कार्य करता था, वह फसल का एक पर्याप्त भाग उन्हें देता था। जब ब्रिटिश औपनिवेशिक भारत में आए, तो उन्होंने कई क्षेत्रों में इन स्थानीय ज़मींदारों द्वारा ही काम चलवाया। उन्होंने ज़मींदारों को संपत्ति के अधिकार भी दे दिए। ब्रिटिश लोगों के लिए काम करते हुए उन्हें ज़मीन पर पहले से ज़्यादा नियंत्रण मिला। हालाँकि औपनिवेशिकों ने कृषि भूमि पर बहुत बड़ा टैक्स लगा दिया था, ज़मींदार कृषक से टैक्स के रूप में जितनी ज़्यादा उपज और पैसा ले सकते थे, ले लेते थे। ज़मींदारी व्यवस्था का एक परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश काल के दौरान कृषि उत्पादन कम होने लगा। ज़मींदारों ने किसानों को अपने दबाव से पीस डाला, साथ ही बार-बार पड़ने वाले अकाल और युद्ध ने जनता को एक तरह से मार डाला।

औपनिवेशिक भारत में बहुत से ज़िलों का प्रशासन ज़मींदारी व्यवस्था द्वारा चलता था। अन्य क्षेत्रों में यह सीधा ब्रिटिश शासन के अधीन था, जिसमें भूप्रबंध रैयतवाड़ी व्यवस्था के द्वारा होता था। (तेलुगू में रैयत का अर्थ है – कृषक) इस व्यवस्था में ज़मींदार के स्थान पर वास्तविक कृषक (वे खुद बहुधा ज़मींदार होते थे न कि कृषक) ही टैक्स चुकाने के लिए ज़िम्मेदार होते थे। क्योंकि औपनिवेशिक सरकार सीधा किसानों या भूस्वामियों से ही सरोकार रखती थी न कि किसी लॉर्ड के द्वारा, इसमें टैक्स का भार कम होता था और कृषकों को कृषि में निवेश करने के लिए अधिक प्रोत्साहन मिलता था। इसके परिणामस्वरूप इन क्षेत्रों में अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन हुआ और वे संपन्न हुए।

औपनिवेशिक भारत में ज़मीन के टैक्स देने की यह पृष्ठभूमि (आप अपनी इतिहास की पुस्तक में इस बारे में ज़्यादा जान पाएँगे) वर्तमान भारत में कृषिक संरचना का अध्ययन करते हुए ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है। क्योंकि आज वर्तमान संरचना में परिवर्तन एक शृंखला के रूप में आने शुरू हो गए हैं।

स्वतंत्र भारत

भारत के स्वतंत्र होने के बाद नेहरू और उनके नीति सलाहकारों ने नियोजित विकास के कार्यक्रमों की तरफ़ अपना ध्यान केंद्रित किया। कृषिकीय सुधारों के साथ ही साथ औद्योगीकरण भी इसमें शामिल था। नीति निर्माताओं ने उस समय भारत की निराशाजनक कृषि स्थिति पर अपने जवाबी मुद्दे बताए जो इसमें शामिल किए गए। मुख्य मुद्दे थे— पैदावार का कम होना, आयातित अनाज पर निर्भरता और ग्रामीण जनसंख्या के एक बड़े भाग में गहन गरीबी का होना। कृषि की उन्नति के लिए कृषिक संरचना में महत्वपूर्ण सुधार किए जाएँ और विशेष रूप से भूस्वामित्व एवं भूमि के बँटवारे की व्यवस्था मे भी सुधार किए जाएँ। सन् 1950 से 1970 के बीच में भूमि सुधार कानूनों की एक शृंखला को शुरू किया गया– इसे राष्ट्रीय स्तर के साथ राज्य के स्तर पर भी चलाया गया, इसका इरादा इन परिवर्तनों को लाने का था।

विधेयक में पहला सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन था ज़मींदारी व्यवस्था को समाप्त करना, इससे उन बिचौलियों की फ़ौज समाप्त हो गई जो कि कृषक और राज्य के बीच में थी। भू-सुधार के लिए पास किए गए कानूनों में यह संभवतः सबसे अधिक प्रभावशाली कानून था। यह महत्वपूर्ण क्षेत्रों में भूमि पर ज़मींदारों के उच्च अधिकारों को दूर करने में और उनकी आर्थिक एवं राजनीतिक शक्तियों को कम करने में सफल रहा। निश्चित रूप से, यह बिना संघर्ष के नहीं हो सकता था, लेकिन इसमें अंततोगत्वा वास्तविक भूस्वामियों एवं स्थानीय कृषकों की स्थिति को मज़बूत कर दिया।

भू-सुधार के कानूनों के अंतर्गत अन्य मुख्य कानून था पट्टेदारी का उन्मूलन और नियंत्रण या नियमन अधिनियम। उन्होंने या तो पट्टेदारी को पूरी तरह से हटाने का प्रयत्न किया या किराए के नियम बनाए ताकि पट्टेदार को कुछ सुरक्षा मिल सके। अधिकतर राज्यों में यह कानून कभी भी प्रभावशाली तरीके से लागू नहीं

Reprint 2026-27

क्रियाकलाप 4.3

- *भू-दान आंदोलन के बारे में जानें*

किया गया। पश्चिम बंगाल और केरल में कृषिक संरचना में आमूल चूल परिवर्तन आए जिससे पट्टेदार को भूमि के अधिकार दिए गए।

भूमि सुधार की तीसरी मुख्य श्रेणी में भूमि की हदबंदी अधिनियम थे। इन कानूनों के तहत एक विशिष्ट परिवार के लिए ज़मीन रखने की उच्चतम सीमा तय कर दी गई। प्रत्येक क्षेत्र में हदबंदी भूमि के प्रकार, उपज और अन्य इसी प्रकार के कारकों पर निर्भर थी। बहुत अधिक उपजाऊ ज़मीन की हदबंदी कम थी जबकि अनउपजाऊ, बिना पानी वाली ज़मीन की हदबंदी अधिक सीमा तक थी। यह संभवतः राज्यों का कार्य था, कि वह निश्चित करे कि अतिरिक्त भूमि (हदबंदी सीमा से ज़्यादा) को वह अधिगृहित कर लें, और इसे भूमिहीन परिवारों को तय की गई श्रेणी के अनुसार पुनः वितरित कर दें जैसे अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति में। परंतु अधिकांश राज्यों में ये अधिनियम दंतविहीन साबित हुए? इसमें बहुत से ऐसे बचाव के रास्ते और युक्तियाँ थीं जिससे परिवारों और घरानों ने अपनी भूमि को राज्यों को देने से बचा लिया था। हालाँकि कुछ बड़ी जागीरों या जायदादों (एस्टेट) को तोड़ दिया गया, लेकिन अधिकतर मामलों में भूस्वामियों ने अपनी भूमि रिश्तेदारों या अन्य लोगों के बीच विभाजित कर दी इसमें उनके नौकर के नाम भी तथाकथित बेनामी बदल दी गईं – जिसमें उन्हें ज़मीन पर नियंत्रण करने का अधिकार दिया गया (वास्तव में उनके नाम नहीं किया गया) कुछ स्थानों पर कुछ अमीर किसानों ने अपनी पत्नी को वास्तव में तलाक दे दिया (परंतु उसी के साथ रहते रहे) सीलिंग अधिनियम की व्यवस्था से बचने के लिए, जो कि एक अविवाहित महिला को अलग हिस्सा देने की अनुमति देता है लेकिन पत्नियों को नहीं। इन्हें बेनामी हस्तांतरण भी कहा जाता था।

कृषिक संरचना पूरे देश में बहुत ही भिन्न स्तर पर मिलती है। विभिन्न प्रकार और विभिन्न राज्यों में भूमि सुधार की प्रगति भी असमान रूप से हुई। मोटे तौर पर कहें तो यह कहा जा सकता है कि हालाँकि इसमें औपनिवेशिक काल से अब तक वास्तव में परिवर्तन आया, लेकिन अभी भी बहुत असमानता बची हुई है। इस संरचना ने कृषि संबंधी उपज पर ध्यान खींचा। भूमि सुधार न केवल कृषि उपज को अधिक बढ़ाने के लिए बल्कि ग्रामीण क्षेत्रों से गरीबी हटाने और सामाजिक न्याय दिलाने के लिए भी आवश्यक है।

4.3 हरित क्रांति और इसके सामाजिक परिणाम

हमने देखा कि अधिकतर क्षेत्रों में भू-सुधार का ग्रामीण समाज तथा कृषिक संरचना पर एक सीमित प्रभाव ही है। इसके विपरीत 1960–70 के दशकों की हरित क्रांति द्वारा उन क्षेत्रों में जहाँ यह प्रभावशाली रही, महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। जैसाकि आप जानते हैं कि हरित क्रांति कृषि आधुनिकीकरण का एक सरकारी कार्यक्रम था। इसके लिए आर्थिक सहायता अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा दी गई थी तथा यह अधिक उत्पादकता वाले अथवा संकर बीजों के साथ कीटनाशकों, खादों तथा किसानों के लिए अन्य निवेश देने पर केंद्रित थी। हरित क्रांति कार्यक्रम केवल उन्हीं क्षेत्रों में लागू किया गया था जहाँ सिंचाई का समुचित प्रबंध था क्योंकि नए बीजों तथा कृषि पद्धति हेतु समुचित जल की आवश्यकता थी। यह कार्यक्रम मुख्य रूप से गेहूँ तथा चावल उत्पादन करने वाले क्षेत्रों पर ही लक्षित था। परिणामस्वरूप हरित क्रांति पैकेज की प्रथम लहर केवल कुछ क्षेत्रों में जैसे पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, तटीय आंध्र प्रदेश तथा तमिलनाडु के कुछ हिस्सों में ही चली। इन क्षेत्रों में त्वरित सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तनों ने समाजशास्त्रियों द्वारा हरित क्रांति के बारे में शृंखलाबद्ध अध्ययनों तथा ज़ोरदार वाद-विवादों की बाढ़ ला दी।

© NCERT not to be republished

Reprint 2026-27

नयी तकनीक द्वारा कृषि उत्पादकता में अत्यधिक वृद्धि हुई। दशकों बाद पहली बार भारत खाद्यान्न उत्पादन में स्वावलंबी बनने में सक्षम हुआ। हरित क्रांति सरकार तथा इसमें योगदान देने वाले वैज्ञानिकों की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि मानी गई है। हालाँकि इसके कुछ नकारात्मक सामाजिक तथा पर्यावरण के विपरीत प्रभावों की ओर हरित क्रांति के क्षेत्रों का अध्ययन करने वाले समाजशास्त्रियों ने संकेत किया है।

हरित क्रांति के अधिकतर क्षेत्रों में मूल रूप से मध्यम तथा बड़े किसान ही नयी तकनीक का लाभ उठा सके। इसका कारण यह था कि इसमें किया जाने वाला निवेश महँगा था, जिनका व्यय छोटे तथा सीमांत किसान उठाने में उतने सक्षम नहीं थे जितने कि बड़े किसान। जब कृषक मूल रूप से स्वयं के लिए उत्पादन करते हैं, तथा बाज़ार के लिए उत्पादन करने में असमर्थ होते हैं तब उन्हें जीवननिर्वाही कृषक कहा जाता है तथा आमतौर पर उन्हें कृषक की संज्ञा दी जाती है। काश्तकार अथवा किसान वे हैं जो परिवार की आवश्यकता से अधिक अतिरिक्त उत्पादन करने में सक्षम होते हैं, तथा इस प्रकार वे बाज़ार से जुड़े होते हैं। हरित क्रांति और इसके बाद होने वाले कृषि व्यापारीकरण का मुख्य लाभ *उन किसानों को मिला जो बाज़ार के लिए अतिरिक्त उत्पादन करने में सक्षम थे।*

इस प्रकार हरित क्रांति के प्रथम चरण, 1960 तथा 1970 के दशकों में, नयी तकनीक के लागू होने से ग्रामीण समाज में असमानताएँ बढ़ने का आभास हुआ। हरित क्रांति की फसलें अधिक लाभ वाली थीं क्योंकि इनसे अधिक उत्पादन होता था। अच्छी आर्थिक स्थिति वाले किसान जिनके पास ज़मीन, पूँजी, तकनीक तथा जानकारी थी तथा जो नए बीजों और खादों में पैसा लगा सकते थे, वे अपना उत्पादन बढ़ा सके और अधिक पैसा कमा सके। हालाँकि कई मामलों में इससे पट्टेदार कृषक बेदखल भी हुए। ऐसा इसलिए कि भूस्वामियों ने अपने पट्टेदारों से ज़मीन वापस ले ली क्योंकि अब सीधे कृषि कार्य करना अधिक लाभदायक था। इससे धनी किसान और अधिक संपन्न हो गए तथा भूमिहीन तथा सीमांत भू-धारकों की दशा और बिगड़ गई।

इसके अतिरिक्त पंजाब तथा मध्य प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में कृषि उपकरणों जैसे टिलर, ट्रेक्टर, थ्रैशर व हारवेस्टर के प्रयोग ने सेवा प्रदान करने वाली जातियों के उन समूहों को भी बेदखल कर दिया जो इन कृषि संबंधी क्रियाकलापों को करते थे। इस बेदखली की प्रक्रिया ने ग्रामीण क्षेत्रों से नगरीय क्षेत्रों की ओर प्रवासन की गति को और भी बढ़ा दिया।

हरित क्रांति की अंतिम परिणति 'विभेदीकरण' एक ऐसी प्रक्रिया थी जिसमें धनी अधिक धनी हो गए तथा कई निर्धन पूर्ववत रहे या अधिक गरीब हो गए। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि कई क्षेत्रों में मज़दूरों की माँग बढ़ने से कृषि मज़दूरों का रोज़गार तथा उनकी दिहाड़ी में भी बढ़ोतरी हुई। इसके अतिरिक्त कीमतों की बढ़ोतरी तथा कृषि मज़दूरों के भुगतान के तरीकों में बदलाव, खाद्यान्न के स्थान पर नगद भुगतान से अधिकतर ग्रामीण मज़दूरों की आर्थिक दशा खराब हो गई।

हरित क्रांति का दूसरा चरण 1980 के दशक में शुरू हुआ जिसमें सूखे तथा आंशिक सिचिंत क्षेत्रों में रहने वाले किसानों ने हरित क्रांति की खेती के तरीकों का पालन करना शुरू किया। इन क्षेत्रों में सूखी कृषि से सिंचित कृषि की ओर एक महत्वपूर्ण बदलाव आया है तथा साथ ही फसल के प्रतिमानों एवं प्रकारों में भी परिवर्तन आया है। बढ़ते व्यापारीकरण तथा बाज़ार पर निर्भरता ने इन क्षेत्रों में (उदाहरण के लिए जहाँ कपास की खेती को प्रोत्साहित किया गया है) जीवन व्यापार की असुरक्षा को घटाने की बजाय बढ़ाया ही है क्योंकि किसान जो एक समय अपने प्रयोग के लिए खाद्यान्न का उत्पादन करते थे अब अपनी आमदनी के लिए बाज़ार पर निर्भर हो गए। *बाजारोन्मुखी कृषि में विशेषतः जब एक ही फसल उगाई जाती है, तो कीमतों में कमी अथवा खराब फसल से किसानों की आर्थिक बरबादी हो सकती* है। हरित क्रांति के अधिकांश क्षेत्रों

में किसानों ने बहुफसली कृषि व्यवस्था, जिसमें वे जोखिम को बाँट सकते थे, के स्थान पर एकल फसली कृषि व्यवस्था को अपनाया, जिसका अर्थ यह था कि फसल नष्ट होने पर उनके पास निर्भरता हेतु कुछ भी नहीं है।

हरित क्रांति की रणनीति की एक नकारात्मक परिणति क्षेत्रीय असमानताओं में वृद्धि थी। वे क्षेत्र जहाँ यह तकनीकी परिवर्तन हुआ अधिक विकसित हो गए जबकि अन्य क्षेत्र पूर्ववत रहे। उदाहरण के लिए हरित क्रांति को देश के पूर्वी, पश्चिमी तथा दक्षिणी भागों तथा पंजाब-हरियाणा तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश में अधिक लागू किया गया (दास 1999)। यह वे क्षेत्र हैं जहाँ सामंतवादी कृषि संरचना आज भी सुस्थापित है जिसमें भूधारक जातियों तथा भूस्वामी निम्न जातियाँ, भूमिहीन मज़दूरों तथा छोटे किसानों पर अपनी सत्ता बरकरार रखे हुए है। जाति तथा वर्ग की तीक्ष्ण असमानताओं तथा शोषणकारी मज़दूर संबंधों ने इन क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की हिंसा जिसमें अंतर्जातीय हिंसा सम्मिलित है, को हाल के वर्षों में बढ़ावा दिया है।

बॉक्स 4.2

स्थानीय मत में सावयवी उत्पाद की संपूर्णता की संकर उत्पाद के साथ तुलना की गई है। मदभावी गाँव की एक बुज़ुर्ग महिला भार्गव हुगर ने कहा।

क्या... वे गेहूँ, लाल सोरघम उगाते हैं... कुछ कंद और मिर्च के पौधे उगाते हैं... कपास। अब सब केवल संकर है... ज्वारी (सावयव/स्थानीय?) कहाँ है? संकर पौधे... और पैदा होने वाले बच्चे भी संकर होते हैं। (वासवी 1994:295–96)

अक्सर यह सोचा जाता है कि कृषि की 'वैज्ञानिक' पद्धति की जानकारी देने से भारतीय कृषकों की दशा में सुधार होगा। हमें यह याद रखना चाहिए कि भारतीय कृषक सदियों से, हरित क्रांति के प्रारंभ से कहीं पहले से, कृषि कार्य करते आ रहे हैं। उन्हें कृषि भूमि तथा उसमें बोई जाने वाली फसलों के बारे में बहुत सघन तथा विस्तृत पारंपरिक जानकारी है। ऐसी बहुत सी जानकारी, जैसे बीजों की बहुत सी पारंपरिक किस्में जिन्हें किसानों ने सदियों में उन्नत किया था, लुप्त होती जा रही हैं, क्योंकि संकर तथा जैविक सुधार वाले बीजों की किस्मों को अधिक उत्पादकता वाले तथा 'वैज्ञानिक' बीजों के रूप में प्रोत्साहित किया जा रहा है (गुप्ता 1988; वासवी 1999)। पर्यावरण तथा समाज पर कृषि के आधुनिक तरीकों के नकारात्मक प्रभाव को देखते हुए, बहुत से वैज्ञानिक तथा कृषक आंदोलन अब कृषि के पारंपरिक तरीकों तथा अधिक सावयवी बीजों के प्रयोग की ओर लौटने की सलाह दे रहे हैं। बहुत से ग्रामीण लोग स्वयं विश्वास करते हैं कि संकर किस्म, पारस्परिक किस्मों से कम स्वस्थ होती हैं।

4.4 स्वतंत्रता के बाद ग्रामीण समाज में परिवर्तन

स्वातंत्र्योत्तर काल में ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक संबंधों की प्रकृति में अनेक प्रभावशाली रूपांतरण हुए, विशेषतः उन क्षेत्रों में जहाँ हरित क्रांति लागू हुई। ये बदलाव थे—

- गहन कृषि के कारण कृषि मज़दूरों की बढ़ोतरी;
- भुगतान में सामान (अनाज) के स्थान पर नगद भुगतान;
- पारंपरिक बंधनों में शिथिलता अथवा भूस्वामी एवं किसान या कृषि मज़दूरों (जिन्हें बँधुआ मज़दूर भी कहते हैं) के मध्य पुश्तैनी संबंधों में कमी होना;
- और 'मुक्त' दिहाड़ी मज़दूरों के वर्ग का उदय।

भूस्वामियों (जो अधिकतर प्रबल जाति के होते थे) तथा कृषि मज़दूरों के (अधिकतर निम्न जातियों के) मध्य संबंधों की प्रकृति में परिवर्तन का वर्णन समाजशास्त्री जान ब्रेमन ने 'संरक्षण से शोषण' की ओर बदलाव में किया था (ब्रेमन 1974)। ऐसे परिवर्तन उन तमाम क्षेत्रों में हुए जहाँ कृषि का व्यापारीकरण

Reprint 2026-27

अधिक हुआ, अर्थात् जहाँ फसलों का उत्पादन मूल रूप से बाज़ार में बिक्री के लिए किया गया। मज़दूर संबंधों का यह बदलाव कुछ विद्वानों द्वारा पूँजीवादी कृषि की ओर एक बदलाव के रूप में देखा जाता है। क्योंकि पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था, उत्पादन के साधन (इस मामले में भूमि) तथा मज़दूरों के पृथक्कीकरण तथा 'मुक्त' दिहाड़ी मज़दूरों के प्रयोग पर आधारित होता है। सामान्यतः, यह सच है कि अधिक विकसित क्षेत्रों के किसान अधिक बाज़ारोन्मुखी हो रहे थे। कृषि के अधिक व्यापारीकरण के कारण ये ग्रामीण क्षेत्र भी विस्तृत अर्थ व्यवस्था से जुड़ते जा रहे थे। इस प्रक्रिया से मुद्रा का गाँवों की तरफ़ बहाव बढ़ा तथा व्यापार के अवसरों व रोज़गार में विस्तार हुआ। लेकिन हमें यह याद रखना चाहिए कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था में बदलाव की यह प्रक्रिया वास्तव में औपनिवेशिक काल में प्रारंभ हुई थी। उन्नीसवीं शताब्दी में महाराष्ट्र में भूमियों के बड़े टुकड़े कपास की कृषि के लिए दिए गए थे, तथा कपास की खेती करने वाले किसान सीधे विश्व बाज़ार से जुड़ गए। हालाँकि इसकी गति तथा विस्तार में स्वतंत्रता के बाद तेज़ी से परिवर्तन हुआ, क्योंकि सरकार ने कृषि की आधुनिक पद्धतियों को प्रोत्साहित किया, तथा अन्य रणनीतियों द्वारा ग्रामीण अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण का प्रयास किया। राज्य सरकार ने ग्रामीण अधिसंरचना जैसे सिंचाई सुविधाएँ, सड़कें, बिजली तथा कृषि संबंधी ग्रामीण अधिसंरचना में निवेश किया। सरकारी समितियों द्वारा उधार की सुविधा भी उपलब्ध करवाई। नियमित रूप से कृषि उत्पाद में वृद्धि के लिए बिना किसी अवरोध के बिजली सप्लाई भी ग्रामीण भारत के लिए आवश्यक है। इसे यंत्रपरक आवश्यकता भी कहा जा सकता है। 2014 में शुरू की गई दीन दयाल उपाध्याय ग्राम ज्योति योजना इस दिशा में भारत सरकार का एक सराहनीय प्रयास है। ग्रामीण विकास के इन प्रयासों का समग्र परिणाम न केवल ग्रामीण अर्थव्यवस्था तथा कृषि में रूपांतरण था बल्कि कृषिक संरचना तथा ग्रामीण समाज में भी रूपांतरण था।

देश के विभिन्न भागों में कृषि कार्य

1960 के दशक से कृषि विकास द्वारा ग्रामीण सामाजिक संरचना को बदलने वाला एक तरीका नयी तकनीक अपनाने वाले मध्यम तथा बड़े किसानों की समृद्धि थी, जिसकी चर्चा पूर्व भाग में की गई है। अनेक कृषि संपन्न क्षेत्रों जैसे तटीय आंध्रप्रदेश, पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा मध्य गुजरात में प्रबल जातियों के संपन्न किसानों ने कृषि से होने वाले लाभ को अन्य प्रकार के व्यापारों में निवेश करना प्रारंभ कर दिया। विविधता की इस प्रक्रिया से नए उद्यमी समूहों का उदय हुआ जिन्होंने ग्रामीण क्षेत्रों से इन विकासशील क्षेत्रों के बढ़ते कस्बों की ओर पलायन किया, जिससे नए क्षेत्रीय अभिजात वर्गों का उदय हुआ जो आर्थिक तथा राजनीतिक रूप से प्रबल हो गए (रट्टन, 1995)। वर्ग संरचना के इस परिवर्तन के साथ ही ग्रामीण तथा अर्द्ध-नगरीय क्षेत्रों में उच्च शिक्षा का विस्तार, विशेषतः निजी व्यावसायिक महाविद्यालयों की स्थापना से नव ग्रामीण अभिजात वर्ग द्वारा अपने बच्चों को शिक्षित करना संभव हुआ, जिनमें से बहुतों ने व्यावसायिक अथवा श्वेत वस्त्र व्यवसाय अपनाए अथवा व्यापार प्रारंभ कर नगरीय मध्य वर्गों के विस्तार में योगदान दिया।

इस प्रकार त्वरित कृषि विकास वाले क्षेत्रों में पुराने भूमि अथवा कृषि समूह का समेकन हुआ, जिन्होंने स्वयं को एक गतिमान उद्यमी, ग्रामीण नगरीय प्रबल वर्ग के रूप में परिवर्तित कर लिया। लेकिन अन्य क्षेत्रों जैसे पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार में प्रभावशाली भू-सुधारों का अभाव, राजनीतिक गतिशीलता तथा पुनर्वितरण के साधनों के कारण वहाँ तुलनात्मक रूप से कृषिक संरचना तथा अधिकांश लोगों की जीवन दशाओं में थोड़े बदलाव हुए। इसके विपरीत केरल जैसे राज्य विकास की एक भिन्न प्रक्रिया से गुजरे जिसमें राजनीतिक गतिशीलता, पुनर्वितरण के साधन तथा बाह्य अर्थव्यवस्था (मूल रूप से खाड़ी के देश) से जुड़ाव ने ग्रामीण परिवेश में भरपूर बदलाव किया। केरल में ग्रामीण क्षेत्र मूल रूप से कृषि प्रधान होने के बजाए मिश्रित अर्थव्यवस्था वाला है जिनमें कुछ कृषि कार्य खुदरा विक्रय तथा सेवाओं के एक विस्तृत संजाल के साथ जुड़ा हुआ है, और जहाँ एक बड़ी संख्या में परिवार विदेश से भेजे जाने वाले धन पर निर्भर हैं।

कृषि व्यवस्था में बदलती हुई तकनीकें

इस घर को देखिए। यह सुकुतम केरल के एक गाँव चक्कार में है यह पालघाट कस्बे से जो कि ज़िले से 3 किमी. की दूरी पर है।

4.5 मज़दूरों का संचार (सरकुलेशन)

प्रवासी कृषि मज़दूरों की बढ़ोतरी ग्रामीण समाज का एक अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन है जो कृषि के व्यापारीकरण से जुड़ा है। मज़दूरों अथवा पहरेदारों तथा भूस्वामियों के बीच संरक्षण का पारंपरिक संबंध टूटने से तथा पंजाब जैसे हरित क्रांति के संपन्न क्षेत्रों में कृषि मज़दूरों की माँग बढ़ने से मौसमी पलायन का एक प्रतिमान उभरा जिसमें हज़ारों मज़दूर अपने गाँवों से अधिक संपन्न क्षेत्रों, जहाँ मज़दूरों की अधिक माँग तथा उच्च मज़दूरी थी, की तरफ़ संचार करते हैं। 1990 के दशक के मध्य से ग्रामीण क्षेत्रों में बढ़ती असमानताएँ, जिन्होंने अनेक गृहस्थियों को स्वयं को बनाए रखने के लिए बहुस्तरीय व्यवसायों को सम्मिलित करने पर बाध्य किया, से भी मज़दूर पलायन करते हैं। जीवन व्यापार की रणनीति के तौर पर पुरुष समय-समय पर काम तथा अच्छी मज़दूरी की खोज में अप्रवास कर जाते हैं, जबकि स्त्रियों तथा बच्चों को अक्सर गाँव में बुज़ुर्ग माता-पिता के साथ छोड़ दिया जाता है। प्रवासन करने वाले मज़दूर मुख्यतः सूखाग्रस्त तथा कम उत्पादकता वाले क्षेत्रों से आते हैं तथा वे वर्ष के कुछ हिस्सों के लिए पंजाब तथा हरियाणा के खेतों में, अथवा उत्तर प्रदेश के ईंट के भट्टों में, अथवा नयी दिल्ली या बैंगलोर जैसे शहरों में, भवन निर्माण कार्य में काम करने के लिए जाते हैं। प्रवासन करने वाले इन मज़दूरों को जान ब्रेमन ने 'घुमक्कड़ मज़दूर' (फूटलूज लेबर) कहा है, परंतु इसका अर्थ स्वतंत्रता नहीं है। इसके विपरीत ब्रेमन (1982) का अध्ययन बताता है कि भूमिहीन मज़दूरों के पास बहुत से अधिकार नहीं होते, उदाहरण के लिए उन्हें अक्सर न्यूनतम मज़दूरी भी नहीं दी जाती है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि धनी किसान अक्सर फसल काटने तथा इसी प्रकार की अन्य गहन कृषि क्रियाओं के लिए स्थानीय कामकाजी वर्ग के स्थान पर, प्रवासन करने वाले मज़दूरों को प्राथमिकता देते हैं, क्योंकि प्रवासन करने वाले मज़दूरों का आसानी से शोषण किया जा सकता है तथा उन्हें कम मज़दूरी भी दी जा सकती है। इस प्राथमिकता ने कुछ क्षेत्रों में एक विशिष्ट प्रतिमान पैदा किया है, जहाँ स्थानीय भूमिहीन मज़दूर अपने गाँव से कृषि के चरम मौसम में काम की तलाश में प्रवास कर जाते हैं जबकि दूसरे क्षेत्रों में प्रवासन करने वाले मज़दूर स्थानीय खेतों में काम करने के लिए लाए जाते हैं। यह प्रतिमान विशेषतः गन्ना उत्पादित क्षेत्रों में पाया जाता है। प्रवासन तथा काम की सुरक्षा के अभाव से इन मज़दूरों के कार्य तथा जीवन दशाएँ खराब हो जाती हैं।

मज़दूरों के बड़े पैमाने पर संचार से ग्रामीण समाज, दोनों ही भेजने वाले तथा प्राप्त करने वाले क्षेत्रों, पर अनेक महत्वपूर्ण प्रभाव पड़े हैं। उदाहरण के लिए निर्धन क्षेत्रों में, जहाँ परिवार के पुरुष सदस्य वर्ष का अधिकतर हिस्सा गाँवों के बाहर काम करने में बिताते हैं, कृषि मूलरूप से एक महिलाओं का कार्य बन गया है। महिलाएँ भी कृषि मज़दूरों के मुख्य स्रोत के रूप में उभर रही हैं जिससे 'कृषि मज़दूरों का महिलाकरण' हो रहा है। महिलाओं में असुरक्षा अधिक है क्योंकि वे समान कार्य के लिए पुरुषों से कम मज़दूरी पाती हैं। अभी हाल तक सरकारी आँकड़ों में कमाने वालों तथा मज़दूरों के रूप में महिलाएँ मुश्किल से नज़र आती थीं जबकि महिलाएँ भूमि पर भूमिहीन मज़दूर तथा कृषक के रूप में श्रम करती हैं, मौज़ूदा पितृवंशीय नातेदारी व्यवस्था तथा अन्य सांस्कृतिक व्यवहार जिनसे पुरुष के अधिकारों का हित होता है, आमतौर पर महिलाओं को भूमि के स्वामित्व से पृथक रखता है।

4.6 भूमंडलीकरण, उदारीकरण तथा ग्रामीण समाज

उदारीकरण की नीति जिसका अनुसरण भारत 1980 के दशक के उत्तरार्द्ध से कर रहा है, का कृषि तथा ग्रामीण समाज पर बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। इस नीति के अंतर्गत विश्व व्यापार संगठन (डब्लू.टी.ओ.)

में भागीदारी होती है, जिसका उद्देश्य अधिक मुक्त अंतर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था है, और जिसमें भारतीय बाज़ारों को आयात हेतु खोलने की आवश्यकता है। दशकों तक सरकारी सहयोग और संरक्षित बाज़ारों के बाद भारतीय किसान अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार से प्रतिस्पर्धा हेतु प्रस्तुत है। उदाहरण के लिए हम सभी ने आयातित फलों तथा अन्य खाद्य सामग्री को अपने स्थानीय बाज़ारों में देखा है – ये वे वस्तुएँ हैं जो कुछ वर्ष पूर्व तक आयात प्रतिस्थापन नीतियों के कारण उपलब्ध नहीं थी। हाल ही में भारत ने गेंहू के आयात का भी फैसला किया, जो एक विवादास्पद फैसला था जिसने खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता की पूर्व नीति को उलट दिया। और साथ ही जो स्वतंत्रता के बाद के प्रारंभिक वर्षों में अमेरिका के खाद्यान्न पर हमारी निर्भरता की कटु स्मृति कराता है।

ये कृषि के भूमंडलीकरण की प्रक्रिया अथवा कृषि को विस्तृत अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में सम्मिलित किए जाने के संकेत हैं – वह प्रक्रिया जिसका किसानों और ग्रामीण समाज पर सीधा प्रभाव पड़ा है। उदाहरणार्थ पंजाब और कर्नाटक जैसे कुछ क्षेत्रों में किसानों को बहुराष्ट्रीय कंपनियों (जैसे पेप्सी, कोक) से कुछ निश्चित फसलें (जैसे टमाटर और आलू) उगाने की संविदा दी गई है, जिन्हें ये कंपनियाँ उनसे प्रसंस्करण अथवा निर्यात हेतु खरीद लेती हैं। ऐसी 'संविदा खेती' पद्धति में, कंपनियाँ उगाई जाने वाली फसलों की पहचान करती हैं, बीज तथा अन्य वस्तुएँ निवेशों के रूप में उपलब्ध करवाती हैं, साथ ही जानकारी तथा अक्सर कार्यकारी पूँजी भी देती है। बदले में किसान बाज़ार की ओर से आश्वस्त रहता है क्योंकि कंपनी पूर्वनिर्धारित तय मूल्य पर उपज के क्रय का आश्वासन देती है। 'संविदा खेती' कुछ विशिष्ट मदों जैसे फूल (कट फ्लावर), अंगूर, अंजीर तथा अनार जैसे फल, कपास तथा तिलहन के लिए आजकल बहुत सामान्य है। जहाँ 'संविदा खेती' किसानों को वित्तीय सुरक्षा प्रदान करती है वहीं यह किसानों के लिए अधिक असुरक्षा भी बन जाती है, क्योंकि वे अपने जीवन व्यापार के लिए इन कंपनियों पर निर्भर हो जाते हैं। निर्यातोन्मुखी उत्पाद जैसे फूल और खीरे हेतु 'संविदा खेती' का अर्थ यह भी है कि कृषि भूमि का प्रयोग खाद्यान्न उत्पादन से हटकर किया जाता है। 'संविदा खेती' का समाजशास्त्रीय महत्त्व यह है कि यह बहुत से व्यक्तियों को उत्पादन प्रक्रिया से अलग कर देती है, तथा उनके अपने देशीय कृषि ज्ञान को निरर्थक बना देती है। इसके अतिरिक्त 'संविदा खेती' मूलरूप से अभिजात मदों का उत्पादन करती है तथा चूँकि यह अक्सर खाद तथा कीटनाशक का उच्च मात्रा में प्रयोग करते हैं, इसलिए यह बहुधा पर्यावरणीय दृष्टि से सुरक्षित नहीं होती।

LETTER FROM MANSURPUR

In western UP, sugarcane is life

Avijit Ghosh | TNN

Mansurpur (UP): It's early morning. And a bunch of anarchic lorries and tractors swollen with sugarcane are already holding up the traffic on NH 58. A little ahead, a posse of bullock carts in similar condition has formed a hydra-headed queue before a sugar mill in this dusty kasba. It will be hours before the yield is delivered.

Outside, Raj Kumar Tyagi of Mubarakpur village sits by his tractor unmindful of asthmatic dust hanging thick in the air. "We are used to waiting," he says. "That's what a crop like sugarcane that takes almost a year to mature teaches farmers."

The wait, from all accounts, has been worth it. "This year, the quality and quantity is good," says Vipin Tyagi, manager (cane), Uttam Sugar Mills. The state government hasn't announced the year's procurement price yet. But the cheery mood flows from a rustic wisdom that former pradhan of Tughluqpur village, Om Singh, typifies. He says, "With UP assembly elections due early next year, farmers believe chief minister Mulayam Singh Yadav will declare a high procurement rate just like wheat." Farmer-friendly organisations have been issuing press statements to keep the pressure. Last year, cane farmers earned around Rs 130-135 per quintal. This year, they hope to fetch at least Rs 150 per quintal.

But the long, jointed fibrous stalk isn't just the region's primary crop. In these parts, sugarcane is synonymous with life. It's not only the spine of the local economy; it's also the soul of its social calendar. The quantum of production and its price decides both marriage spending and motorcycle sales. The crop acts as a guarantee for farmers in need of loans. In these badlands, where kidnapping is a cottage industry, it means a lot for criminals too.

"Before the harvest, kidnappers hide their victims in tall sugarcane fields. After the crop is reaped, the venue shifts elsewhere," says Amarendra Sengar, SP, Muzaffarnagar district. "But unlike Punjab, where festivals like Lohri are linked to wheat harvesting, no such celebrations are associated with sugarcane," says Muzaffarnagar-based psychologist Sanjay Singh.

Statistics show UP contributes about 44% of India's total cane production. About 2.25 million hectares is under sugarcane cultivation. In 2005-06, the state produced around 135 million tonnes of the crop.

And western UP is cane heartland. As Pervez Garg of Mansurpur Traders Association puts it succinctly, "Everything we do or don't do is linked to sugarcane." Sari sales in his shop rise by 30% during the harvest season. Mobile phone retailer Sudesh Kumar sells three phones on an average during the off-season but the harvest months (November to March), sees sales move north to six phones a day. "Sometimes, the number is as high as nine," he informs. But for a liquor seller in Khatauli kasba, the season has a different meaning. "To me, it means the end of the beer and the beginning of whisky season," he says.

BUMPER CROP: Sales of consumer goods like bikes and mobiles surge during the harvest months in rural parts of western UP

Guest Editor's CHOICE

► Delays irk farmers, P 19

ग्रामीण क्षेत्र

कृषि के भूमंडलीकरण का एक अन्य तथा अधिक प्रचलित पक्ष बहुराष्ट्रीय कंपनियों का इस क्षेत्र में कृषि मदों जैसे बीज, कीटनाशक तथा खाद के विक्रेता के रूप में प्रवेश है। पिछले दशक के आसपास से सरकार ने अपने कृषि विकास कार्यक्रमों में कमी की है तथा 'कृषि विस्तार' एजेंटों का स्थान गाँव में बीज, खाद तथा कीटनाशक कंपनियों के एजेंटों ने ले लिया है। ये एजेंट अकसर किसानों के लिए नए बीजों तथा कृषि कार्य हेतु

Reprint 2026-27

फूलों की खेती

जानकारी का एकमात्र स्रोत होते हैं, और निःसंदेह वे अपने उत्पाद बेचने के इच्छुक होते हैं। इससे किसानों की महँगी खाद और कीटनाशकों पर निर्भरता बढ़ी है, जिससे उनका लाभ कम हुआ है, बहुत से किसान ऋणी हो गए हैं, तथा ग्रामीण क्षेत्रों में पर्यावरण संकट भी पैदा हुआ है।

बॉक्स 4.3

किसानों द्वारा आत्महत्या

देश के विभिन्न भागों में 1997–98 से किसानों द्वारा की जा रही आत्महत्या का संबंध कृषि में संरचनात्मक परिवर्तन व आर्थिक एवं कृषि नीतियों में परिवर्तन से होने वाली कृषिक समस्या से है। इनमें शामिल हैं— भूस्वामित्व के प्रतिमान में परिवर्तन; फसलों के प्रतिमान में परिवर्तन विशेषतः नगदी फसल की ओर झुकाव के कारण; उदारीकरण की नीतियाँ जिन्होंने भारतीय कृषि को भूमंडलीय शक्तियों के सम्मुख कर दिया है; उच्च लागत वाले निवेशों पर अत्यधिक निर्भरता; राज्य का कृषि विस्तार गतिविधियों से बाहर होना तथा बहुराष्ट्रीय बीज तथा खाद कंपनियों द्वारा उनका स्थान लेना; कृषि के लिए राज्य सहयोग में कमी; तथा कृषि कार्यों का वैयक्तीकरण। सरकारी आँकड़ों के अनुसार 2001 तथा 2006 के मध्य आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, केरल तथा महाराष्ट्र में 8,900 किसानों ने आत्महत्याएँ की। (सूरी, 2006:1523)

हालाँकि ऐसा उत्पादन करने का अर्थ था, कई प्रकार के जोखिम उठाना। कृषि रियायतों में कमी के कारण उत्पादन लागत में तेज़ी से बढ़ोतरी हुई है, बाज़ार स्थिर नहीं है तथा बहुत से किसान अपना उत्पादन बढ़ाने के लिए महँगे मदों में निवेश करने हेतु अत्यधिक उधार लेते हैं।

ऋण ग्रस्तता एवं कृषि उत्पादन की प्रक्रिया में आने वाले प्राकृतिक एवं सामाजिक संकट किसानों की आत्महत्या के मुख्य कारक हैं। अनेक आकस्मिक संकट प्रकृति में आए उतार चढ़ाव से उत्पन्न होते हैं। 'प्रधानमंत्री फसल बीमा योजना' एवं 'ग्राम उदय से भारत उदय' अभियान और साथ ही 'नेशनल

अरबन मिशन' (राष्ट्रीय ग्रामीण–नगरीय मिशन) सतत कृषि के लिए राष्ट्रीय मिशन और किसान क्रेडिट कार्ड आदि वे कार्यक्रम हैं, जिन्हें भारत सरकार संचालित करती है। इन कार्यक्रमों ने पूरे देश में किसानों के लिए एकीकृत सहायता के मार्ग खोले हैं। इसके अतिरिक्त इन कार्यक्रमों के द्वारा ग्रामीण लोगों के जीवनयापन में गुणात्मक सुधार हुआ है।

क्रियाकलाप 4.4

➢ *समाचारपत्र ध्यानपूर्वक पढ़ें। दूरदर्शन अथवा रेडियो के समाचार सुनें। कब-कब ग्रामीण क्षेत्रों को सम्मिलित किया जाता है? किस तरह के मुद्दे आमतौर पर बताए जाते हैं?*

प्रश्नावली

1. दिए गए गद्यांश को पढ़ें तथा प्रश्नों का उत्तर दें।
   अघनबीघा में मज़दूरों की कठिन कार्य-दशा, मालिकों की एक वर्ग के रूप में आर्थिक शक्ति तथा प्रबल जाति के सदस्य के रूप में अपरिमित शक्ति के संयुक्त प्रभाव का परिणाम थी। मालिकों की सामाजिक शक्ति का एक महत्वपूर्ण पक्ष, राज्य के विभिन्न अंगों का अपने हितों के पक्ष में हस्तक्षेप करवा सकने की क्षमता थी। इस प्रकार प्रबल तथा निम्न वर्ग के मध्य खाई को चौड़ा करने में राजनीतिक कारकों का निर्णयात्मक योगदान रहा है।
   (i) मालिक राज्य की शक्ति को अपने हितों के लिए कैसे प्रयोग कर सके, इस बारे में आप क्या सोचते हैं?
   (ii) मज़दूरों की कार्य दशा कठिन क्यों थी?
2. भूमिहीन कृषि मज़दूरों तथा प्रवासन करने वाले मज़दूरों के हितों की रक्षा करने के लिए आपके अनुसार सरकार ने क्या उपाय किए हैं, अथवा क्या किए जाने चाहिए?
3. कृषि मज़दूरों की स्थिति तथा उनकी सामाजिक-अर्थिक उर्ध्वगामी गतिशीलता के अभाव के बीच सीधा संबंध है। इनमें से कुछ के नाम बताइए।
4. वे कौन से कारक हैं जिन्होंने कुछ समूहों के नव धनाढ्य, उद्यमी तथा प्रबल वर्ग के रूप में परिवर्तन को संभव किया है? क्या आप अपने राज्य में इस परिवर्तन के उदाहरण के बारे में सोच सकते हैं?
5. हिंदी तथा क्षेत्रीय भाषाओं की फ़िल्में अक्सर ग्रामीण परिवेश में होती हैं। ग्रामीण भारत पर आधारित किसी फ़िल्म के बारे में सोचिए तथा उसमें दर्शाए गए कृषक समाज और संस्कृति का वर्णन कीजिए। उसमें दिखाए गए दृश्य कितने वास्तविक हैं? क्या आपने हाल में ग्रामीण क्षेत्र पर आधारित कोई फ़िल्म देखी है? यदि नहीं तो आप इसकी व्याख्या किस प्रकार करेंगे?
6. अपने पड़ोस में किसी निर्माण स्थल, ईंट के भट्टे या किसी अन्य स्थान पर जाएँ जहाँ आपको प्रवासी मज़दूरों के मिलने की संभावना हो, पता लगाइए कि वे मज़दूर कहाँ से आए हैं? उनके गाँव से उनकी भर्ती किस प्रकार की गई, उनका मुकादम कौन है? अगर वे ग्रामीण क्षेत्र से हैं तो गाँवों में उनके जीवन के बारे में पता लगाइए तथा उन्हें काम ढूँढ़ने के लिए प्रवासन करके बाहर क्यों जाना पड़ा?
7. अपने स्थानीय फल विक्रेता के पास जाएँ और उससे पूछें कि वे फल जो वह बेचता है, कहाँ से आते हैं, और उनका मूल्य क्या है? पता लगाइए कि भारत के बाहर से फलों के आयात (जैसेकि आस्ट्रेलिया से सेव) के बाद स्थानीय उत्पाद के मूल्यों का क्या हुआ। क्या कोई ऐसा आयातित फल है जो भारतीय फलों से सस्ता है?

© NCERT not to be republished

Reprint 2026-27

8. ग्रामीण भारत में पर्यावरण स्थिति के विषय में जानकारी एकत्र कर एक रिपोर्ट लिखें। उदाहरण के लिए विषय, कीटनाशक, घटता जल स्तर, तटीय क्षेत्रों में झींगें की खेती का प्रभाव, भूमि का लवणीकरण तथा नहर सिंचित क्षेत्रों में पानी का जमाव, जैविक विविधता का ह्रास।

__संभावित स्रोत:__ स्टेट ऑफ इंडियन इन्वायरमेंट रिपोर्ट्स, रिपोर्ट्स फ्रॉम सेंटर फॉर साइंस एंड डेवलपमेंट तथा एक पत्रिका – डाउन टू अर्थ।

संदर्भ ग्रंथ

अग्रवाल, बीना. 1994. अ फिल्ड ऑफ़ वन्स आनः जेंडर एंड लैंड राइट्स इन साऊथ एशिया, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली

ब्रेमन, जान. 1974. पेट्रोनेज एंड एक्सप्लॉयटेशन; चेजिंग अग्रेरियन रिलेशन्स इन साउथ गुजरात, *यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफॉरनिया प्रेस, बर्कले*

ब्रेमन, जान. 1985. ऑफ़ पीज़ेंट्स, माइग्रेंट्स एंड पॉपर्स; रूरल लेबर सरकुलेशन एंड केपिटलिस्ट प्रोडक्शन इन वेस्ट इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली

ब्रेमन, जान, और सुदीप्तो, मुंडेल (सं). 1991. रूरल ट्रांसफॉरमेंशन इन एशिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली

दास, राजू जे. 1999. 'ज्योग्रॉफिकल अनइवननेस ऑफ़ इंडियाज़ ग्रीन रिवोल्यूशन', जरनल ऑफ कंटेपोरेरी एशिया 29 (2)

गुप्ता, अखिल. 1998. पोस्टकॉलोनियल डेवलपमेंट्स : *एग्रीकल्चर इन द मेकिंग ऑफ़ मार्डन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली*

कुमार, धर्म. 1998. कॉलोनियलिज़्म, प्रॉपर्टी एंड द स्टेट, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली

रूट्टन, मारियो. 1995. फार्म्स एंड फैक्टर्स; सोशल प्रोफाइल ऑफ लार्ज फारमर्स एंड रूरल इंडस्ट्रियलिस्ट इन वेस्ट इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली

श्रीनिवास, एम.एन. 1987. द डोमिनेन्ट कास्ट एंड अदर ऐसेज़, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली

सुरी, के.सी. 2006. 'पॉलिटिकल इकोनॉमी ऑफ़ एगरेरियन डिस्ट्रेस' इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली 41: 1523–29

थॉर्नर, एलिस. 1982. 'सेमी-फ्यूडर ऑर केपिटलिज़्म? कंटेपोरेरी डिबेट ऑन क्लासेज़ एंड मोड्स ऑफ़ प्रोडक्शन इन इंडिया' इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली 17:1961–68, 1993–99, 2061–66

थॉर्नर, डेनियल. 1991. एग्रीरियन स्ट्रक्चर। दीपंकर गुप्ता (संघ), सोशल स्ट्राटीफिकेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली

बसवी ए.आर. 1994. हाइबिड टाइम्स, हाइब्रिड पीपल : कल्चर एंड एग्रीकल्चर इन साउथ इंडिया, मेन, जरनल ऑफ़ द रॉयल एंथ्रोप्लॉजी सोसाइटी, (29) 2।

वासवी, ए.आर. 1999. 'एग्रीरियल डिस्ट्रेस इन बिहार : स्टेट, मार्केट एंड सुसाइड्स' इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली 34:2263–68

वासवी, ए.आर. 1999. 'हरब्रिंगर्स ऑफ रेन : लेंड एंड लाइफ इन साउथ इंडिया', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली

Reprint 2026-27

© NCERT not to be republished